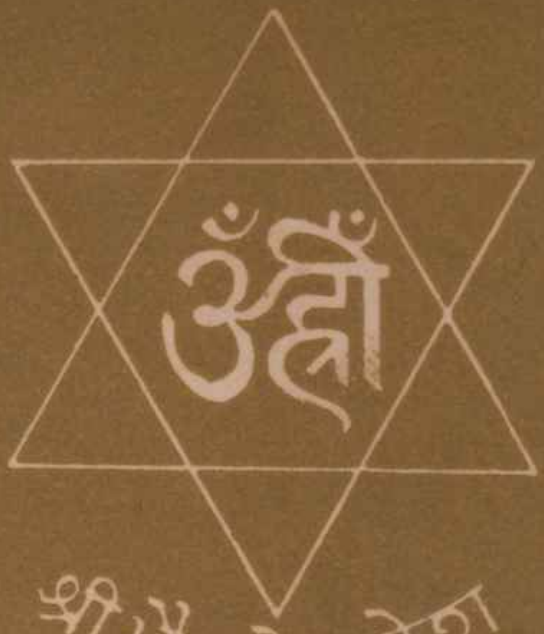

श्री भैरवोपदेश

भक्ति-योग

(सरल गुजराती भाषा एवं हिन्दी अनुवाद सहित)

गुप्तावतार बाबाश्री

भक्ति-योग

रचयिता

गुप्तावतार बाबाश्री

अनुवादक

'कौल-कल्पतरु' पं० देवीदत्त शुक्ल

सम्पादक एवं टिप्पणी-कर्त्ता

'कुल-भूषण' पं० रमादत्त शुक्ल

श्री ऋतशील शर्मा

प्रकाशक
कल्याण मन्दिर प्रकाशन
अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग—२११००६

द्वितीय संस्करण : : वैशाख शुक्लाष्टमी२०४७ वि०–२ मई ९०

मूल्य : [redacted] रु०

सर्वाधिकार सुरक्षित

मुद्रक
परा वाणी प्रेस
अलोपीबाग मार्ग
इलाहाबाद––२११००६

अ-नु-क्र-म

१	पुस्तक-परिचय	५
२	निवेदन	६
३	विषय-प्रवेश	७
४	भक्ति-सूत्र	१५
५	भक्ति-योग	१७
६	'भक्ति' का अर्थ एवं 'भक्ति' के नौ प्रकार	४१
७	प्रभु-मिलन की स्थिति	४६
८	भक्त की माँग	४८
९	भक्ति और मूर्ख	४८

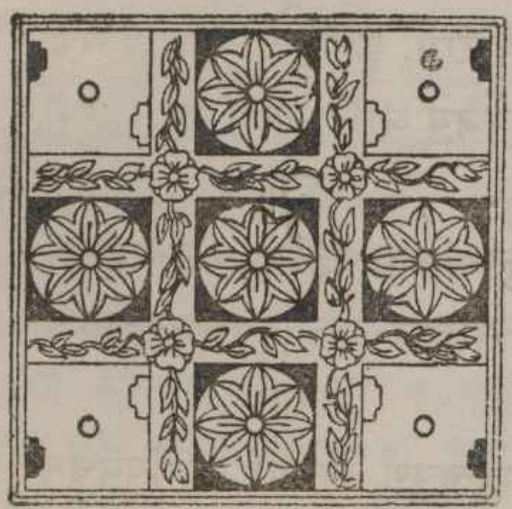

मुमुक्षु मार्ग

(रहस्योद्घाटन)

गुप्तावतार बाबाश्री के प्रवचनों

के

आधार पर

ॐ, राम, कृष्ण, गायत्री, नवाण,

मृत्युञ्जय आदि मन्त्रों का रहस्यार्थ

एवम्

कुण्डलिनी-रहस्य, योग-रहस्य,

पादुका-रहस्य, पूजा-रहस्य

आदि

महत्वपूर्ण विषयों का विवेचन

मूल्य : १०-०० रु०

पुस्तक-परिचय

(मूल गुजराती संस्करण का संक्षिप्त अंश)

'श्रीभैरवोपदेश' में सबसे पहले 'निष्काम योग' का वर्णन किया गया है, जो उन्नति के सभी अभिलाषियों और कर्म-मार्ग के अधिकारियों के लिए आवश्यक है।

'निष्काम योग' की पूर्ति, 'कर्म-संन्यास योग' द्वारा ही हो सकती है। अतः उसका वर्णन 'निष्काम योग' के बाद किया गया है। कर्म और अकर्म के बन्धनों से मुक्त जीव अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इसलिए 'कर्म-संन्यास योग' के बाद 'अध्यात्म-योग' का वर्णन किया गया है। 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के ज्ञान के बिना अध्यात्म-ज्ञान पूर्ण नहीं होता। इसलिए उसका भी वर्णन किया गया है।

वैराग्य के बिना 'क्षेत्र' का स्वरूप पूर्ण रूप से समझ में नहीं आता, इसलिए 'वैराग्य योग' का वर्णन भी किया गया है।

'वैराग्य योग' के बाद, इस उद्देश्य से कि मानवीय जीवन वासनाओं से मुक्त होकर उच्च स्थिति प्राप्त करे, सोपान-रूप में 'विज्ञान-योग', 'राज-योग', 'हठ-योग', 'नाद-योग', 'मन्त्र-योग', 'लय-योग', 'ध्यान-योग' और 'विचार-योग' का वर्णन किया गया है। सभी पुस्तक-रूप में अलग-अलग प्रकाशित हैं।

इस प्रकार इस छोटे-से ग्रन्थ में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की भाँति तीनों काण्डों और सोलह योगों का वर्णन कर ऐसी जगत्-हितकारी एक नई योजना उपस्थित की गई है, जिससे सरल दृष्टि, सरल बुद्धि और सरल स्वभाव के व्यक्तियों का भी उपकार हो सकता है।

—शङ्कराचार्य श्री स्वामी त्रिविक्रम तीर्थ जी

लींबड़ी, सं० १९९१, नवम्बर १९३४

निवेदन

प्रथम संस्करण, वैशाख २००६—मई १६५२ का संक्षिप्त अंश

'श्रीभैरवोपदेश' पूज्य - चरण श्रीमान् बाबा मोतीलाल जी महाराज की अध्यात्म-विषयक एक अनूठी रचना है। यह रचना गुजराती के सरस तथा ओज-पूर्ण पद्यों में है। इसमें कर्म, योग और ज्ञान आदि दार्शनिक तथ्यों का वर्णन हुआ है। यह वर्णन उपदेशात्मक होते हुए भी बहुत ही रोचक और हृदय-ग्राही है।

अभी तक यह रचना गुजराती में प्राप्त थी। अध्यात्म-विषय के प्रेमियों के सौभाग्य से अब यह हिन्दी-अक्षरों में हिन्दी-अनुवाद-सहित प्रकाशित हो रही है।

मुझ जैसे साधारण पाठकों की अल्प बुद्धि में योग, ज्ञान आदि गम्भीर विषय उतना समझ में नहीं आ पाते। ऐसों के लिए 'श्रीभैरवोपदेश' में इन सभी विषयों का विवेचन ऐसे ढँग से किया गया है कि साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी उन्हें भले प्रकार हृदयङ्गम कर सकता है।

अध्यात्म-विषय के प्रेमियों को इस रचना का संग्रह कर इससे अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

देवीदत्त शुक्ल

वैशाख २००६, मई १६५२ प्रयाग

गुप्तावतार बाबा श्री के प्रवचनों के आधार पर

विषय-प्रवेश

भक्ति-योग अर्थात् ध्याता-ध्येय की एकता

ध्याता-ध्येय की एकता—'लैला-मजनू की कथा' से समझ में आ सकती है।

मजनू का सिर ठिकाने नहीं था। उसको ठण्डा करने के लिए, हकीम ने शरीर से खून निकाल देने को कहा। यह सुनकर मजनू ने कहा कि—'सँभालकर निकालना! मेरी लैला को कहीं छुरी न लग जाय!' मजनू लैला में ऐसा ही तल्लीन था और लैला के साथ एकता का अनुभव करता था। उसका मन लैला-मय बन गया था। वह अपने शरीर की रग-रग में लैला को ही देखता था। लैला की छवि उसको अपने खून की बूँद-बूँद में दीखती थी। इसी स्थिति को—'ध्याता-ध्येय की एकता' कहते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि खून में तस्वीर कहाँ से हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि सिर में रक्त घूमता है, जिससे 'विचार' उत्पन्न होते हैं। वह रक्त-प्रवाह मामूली विचार करने के लिए काफी होता है, लेकिन 'मन' को एकाग्र करने से रक्त-सञ्चालन जोर से होगा। 'एकाग्रता' के बिना कोई भी आविष्कार सम्भव नहीं है। 'मन' जिस बात पर लगेगा, उसका वह जब तक आकार नहीं बनेगा, तब तक आविष्कार पूर्ण-रूप से खिल न पाएगा।

रक्त सिर में घूमता है, इसलिए आविष्कार या प्रेम या व्यक्ति या प्रभु के लिए की गई एकाग्रता के विचार जो सिर

में होते हैं, वे रक्त में भी होने चाहिए। अतएव 'मन' जिसका एकाग्रता-पूर्वक विचार करेगा, उसका आकार रक्त में होना स्वाभाविक है।

हम लोग रात-दिन दुनियादारी में फँसे रहते हैं। 'प्रभु की याद' में एक क्षण भी नहीं देते। तब 'प्रभु' कहाँ से मिले? हम जितने अधिक 'चुम्बक' बनेंगे, उतना ही 'प्रभु' सम्मुख होगा। जितनी जोर से हम चुम्बक बनकर खींचेंगे, उतने ही वेग से 'प्रभु' सम्मुख होगा। कुछ किए बिना हम 'प्रभु-दर्शन' की आशा कैसे रख सकते हैं?

जिसको हम 'सुख' मानते हैं, वह वास्तव में 'सुख' नहीं है, यह बात बार-बार विचार कर 'मन' में भर देनी चाहिए। जैसे कुएँ के ऊपर, पानी खींचनेवाली डोर की रगड़ से, पत्थर या लोहा घिस जाता है, वैसे ही 'मन' पर भी बार-बार विचार की रगड़ पड़ने से वह घिस जाएगा। 'मन' को जो सिखाना चाहते हैं, वह उसे सीख सकेगा और जिस विचार पर उसे स्थिर करना चाहेंगे, वह उस पर स्थिर हो जाएगा।

'मन' में विचित्र शक्ति है। वह जो चाहे, कर सकता है। अतएव अभ्यास के द्वारा, अनित्य से 'मन' हटकर यदि 'प्रभु की याद' में तन्मय हो जाय, तो 'प्रभु' सम्मुख हो सकता है।

प्रकृति का नियम है कि वह किसी चीज को खाली नहीं रखती। अवकाश में दीखती हुई पोल में भी कुछ-न-कुछ सूक्ष्म तत्त्व भरा ही रहता है। मनुष्य भी जैसा या जिसके पात्र होगा, वैसा या वह उसमें भरा ही होगा। जब पात्र बनेगा, तब वह तुरन्त भरा ही जायगा। यदि अपने को इच्छित वस्तु की प्राप्ति,

प्रयत्न करने पर भी, नहीं होती, तो समझो कि वस्तु मिल सके, ऐसा पात्र हम अभी नहीं बने।

'ईश्वर-मार्ग' में जाने के लिए मनुष्य 'पात्र' बनेगा, तो तुरन्त कोई रास्ता दिखानेवाला मिल जायगा। यदि 'पात्र' बनना है, तो 'दुइ' के हटाने का प्रयत्न प्रारम्भ करो। 'शून्य' बनने पर ईश्वर स्वयं उसको भर देगा।

ईश्वर को कोई अपने प्रयत्न से जान नहीं सकता। ईश्वर ही अपने को जनाता है। हम व्यक्त होने के कारण 'अव्यक्त' को नहीं जान सकते। व्यक्त के शून्य बनने पर ही, 'अव्यक्त' उसे भरता है। मन और बुद्धि से हम ईश्वर को नहीं जान सकते, लेकिन यदि ईश्वर कृपा कर स्वयं प्रयत्न-शील को वरण करे, तो वह जान सकता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने ठीक ही कहा है—

सोइ जानत, जेहि देहु जनाई।
जानत तुमहि, तुमहि होइ जाई॥

जिसमें ईश्वर भरा जायगा, वह पूर्ण होगा। वह 'प्रभु का स्वरूप' ही बन जायगा। अतएव प्रभु को प्राप्त करने के लिए 'भक्ति' द्वारा उसका 'पात्र' बनना जरूरी है।

भक्ति-मार्ग का रहस्य

पुस्तक पढ़ने से मार्ग नहीं मिलता। पुस्तक लिखनेवाला जितना जानता होगा, उतना ही बताएगा। व्यक्ति के स्थिति-स्थान के अनुसार उसे कहाँ से आगे बढ़ना चाहिए, यह पुस्तक में नहीं लिखा रहता। साधक ने यदि हृदय अर्पित किया होगा,

तो हृदय को पहचान सकनेवाला मार्ग-दर्शक ही योग्य मार्ग बता सकता है। जो व्यक्ति हृदय को नहीं पहचान सकता, वह मार्ग भी नहीं बता सकता।

आत्मोन्नति के लक्ष्य से किसी पर भरोसा न रखकर, अपने ही अवलम्ब पर आगे बढ़ना या परिश्रम से शक्ति प्राप्त करना कठिन है, लेकिन प्रभु में दिल लगाकर उनकी सहायता और आश्रय से मार्गस्थ होना सरल है। इसी मार्ग का नाम है—'भक्ति-योग'।

'प्रभु' पर दिल बराबर न लगे, यह हो सकता है, लेकिन धीरे-धीरे प्रयत्न करने से दिल लग ही जायगा। 'जिससे दिल चाहे–मुलाकात न हो, क्या माने?' प्रभु से दिल लगाने में, अपनी शक्ति पर निर्भर न रहकर, उस शक्ति का हवन करते रहना चाहिए, अर्थात् प्रभु का स्मरण करते हुए प्रत्येक कार्य का आरम्भ करना चाहिए।

हर समय प्रभु हाजिर - नाजिर हैं, यह मानना चाहिए। प्रत्येक सफलता को 'प्रभु-चरणों' पर रख देना चाहिए। 'जो कुछ हुआ, तेरी दया और कृपा से हुआ'—ऐसा ही हर समय मानना चाहिए। 'तेरी कृपा के बिना सफलता मिलनी मुश्किल थी'—इस तरह अपनी शक्ति का हवन करना ही आजकल उत्तम मार्ग है।

चारों ओर की मुसीबत के इस जमाने में जीवन की झंझटें इतनी बढ़ गई हैं, मानों दूसरा कुछ करने का समय ही नहीं रह गया है। कुछ भी करने जाओ, तो अनेक विघ्न खड़े हो जाते हैं और कुछ भी नहीं कर पाते। यदि मन भटकता है, तो उसको काम में लगा दो। दुनिया में कुछ भी सार नहीं है।

जहाँ देखो, दुःख-ही-दुःख है और 'प्रभु-प्राप्ति' ही एक सच्चा काम है—ऐसा विचार कर, उसकी प्राप्ति के लिए 'मन' को 'प्रभु' में लगाना चाहिए।

प्रभु-चिन्तन का आनन्द

जैसे हलवा खानेवाले को ही हलवे के स्वाद की खबर होती है, वैसे ही 'प्रभु - चिन्तन' में कितना आनन्द है, यह चिन्तन करनेवाला ही जानता है। हलवा खानेवाला इतना ही कह सकता है कि हलवा मीठा है, स्वादिष्ट है और खाने के योग्य है। गुरु-जन भी इतना ही कह सकते हैं कि चिन्तन करने में आनन्द मिलता है।

हलवा गले में भीतर कैसे उतारना, यह किसी को बताना नहीं पड़ता। खाने की इच्छा हो, तो व्यक्ति अपने आप खा लेगा, किसी को उसे उसकी क्रिया बताने की जरूरत नहीं होगी। इसी प्रकार 'प्रभु-चिन्तन' कैसे करना होगा, यह बताया नहीं जा सकता। चिन्तन करने की इच्छा होगी, तो बुद्धि अपने आप सिखा देगी।

सर्वस्व-अर्पण का भाव और भगवद्-दर्शन

मेरा तेरा हो जाय, यह 'प्रभु' के लिए ही कहा जा सकता है। अपना तन, मन, धन, क्रिया-लक्ष्य—सब कुछ प्रभु के लिए है—ऐसा भाव रहना चाहिए। प्रभु का सतत चिन्तन भी होना चाहिए। यह सब एक साथ नहीं हो सकता। जिनको सर्वस्वार्पण का भाव रखना हो, उन्हें धीरे-धीरे इस भाव का अभ्यास करना चाहिए। सम्भव है कि यह भाव सतत न टिक सके या

इस भाव के रखने में असफलता प्राप्त हो, परन्तु असफलता के डर से ऐसा भाव न रखने की अपेक्षा इसे रखकर असफल होना ज्यादा उत्तम है।

भगवान् का दर्शन हुआ अर्थात् मन को भगवान् के दर्शन का अनुभव हुआ। यदि गम्भीरता - पूर्वक कोई विचार करने बैठे, तो उस विचार का मानसिक चित्र आँख के सामने खड़ा हो जायगा। अपने ही मानसिक विचार के कल्पना - चित्र के सम्मुख होने का नाम है– दर्शन।

'दर्शन', नेत्र का विषय है, जो नेत्र से सूक्ष्म है। विषय से 'मन' ज्यादा सूक्ष्म है। अतएव इन्द्रिय अर्थात् नेत्र के विषय-दर्शन का राजा 'मन' है। मन दृढ़ता-पूर्वक जो विचार करेगा, उसका कल्पना-चित्र बाहर की ओर प्रत्यक्ष देखेगा। इन्द्रिय की क्रिया मन के अधीन है। मन जिस लक्ष्य पर स्थापित होगा, उसका वह एक कल्पना-चित्र खड़ा कर देगा। अतएव साधक मन लगाकर यदि प्रयत्न करे, तो दर्शन हो सकता है, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

भक्त का धैर्य

'नारद भक्ति-सूत्र' में एक कथा है––

एक तपस्वी (योगी) तपस्या करता था, वहाँ से भगवान् नारद जा रहे थे। उसे देखकर वे स्थूल में नीचे उतर आए। उन्हें देख तपस्वी बोला––'आप तो सदैव प्रभु से मिलते हैं, तो कृपया बतलाइए, मुझे मोक्ष कब मिलेगा ?'

श्री नारद बोले—'मैं प्रभु से मिलने के बाद कहूँगा।'

फिर नारद मुनि एक भक्त के पास गए। उसने भी यही पूछा—'कृपा करके मुझे बतलाइए कि मुझे प्रभु का दर्शन कब होगा?' उसे भी नारद मुनि ने वही उत्तर दिया।

फिर दूसरी बार जब वे तपस्वी के पास से निकले, तब पूछने पर उन्होंने कहा कि—'अभी तुझे दस जन्म और लगेंगे।' इस पर तपस्वी को अधैर्य व अश्रद्धा उत्पन्न हुई और तपस्या छोड़ वह उठ कर चल दिया।

भगवान् नारद उसी प्रकार दूसरी बार भक्त के पास गए और उसे उत्तर दिया कि 'जिस झाड़ के नीचे तू तपस्या करता है, उसमें जितने पत्ते हैं, उतने जन्म बाद तुझे दर्शन होंगे।'

इतना सुनकर वह भक्त अत्यन्त आनन्द में गद्‌गद् होकर नाचने लगा। उसे यही हुआ कि दर्शन कभी तो होगा। नाचते-नाचते उसे त्वरित ही भगवान् के दर्शन हुए। तब वहीं खड़े हुए नारद मुनि ने भगवान् से पूछा—'आपने तो इस पीपल के वृक्ष के जितने पत्ते हैं, उतने जन्म बाद दशन देने को कहा था, परन्तु अभी ही त्वरित दर्शन फिर कैसे दिया—ऐसा क्यों?'

तब प्रभु ने कहा—'अरे! इस भक्त का धैर्य तो देखो।'

ऐसा दृढ़ निश्चय जब व्यक्ति में हो जाता है, तभी सन्मुखत्व मिलेगा, ऐसा कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

आशिक होकर कैसी नासिके रवाई? यदि शिकायत है, तो प्रेम अधूरा है। निराशा माने मन की खामी (कमजोरी)। यह कमजोरी अभ्यास से दूर हो सकती है।

स्त्री-भाव से भक्ति

'ईश्वर-प्राप्ति' के लिए आकर्षण की जरूरत है। दो पुरुष या दो स्त्री व्यक्तियों के बीच इतना आकर्षण न होगा, जितना दो स्त्री - पुरुष के बीच होगा। विश्व में पुरुष - मात्र भगवान् श्रीकृष्ण हैं और उनको प्राप्त करने के लिए भक्तों ने 'स्त्री-भाव' से भक्ति की है। नरसिंह मेहता ने कहा है—

सारमां सार अवतार अबला तणो।
जे थकी बलीभद्र वीर रीझे॥
पुरुष पुरुषातन शूं करूँ हे सखे!
तेणे नहीं माहरूं काज सीजे॥

स्त्री अपनी संलग्नता से ईश्वर-प्राप्ति जल्दी कर सकती है। अतएव नरसिंह मेहता को लगा कि 'पुरुष-भाव' से 'भक्ति' करने से कार्य जल्दी सिद्ध न होगा, इसलिए उन्होंने 'स्त्री-भाव' से 'भक्ति' की। उपर्युक्त भजन में आगे चलकर उन्होंने प्रभु को प्राण-पति के नाम से सम्बोधित किया है, जो उनका 'स्त्री-भाव' दिखाता है। बङ्गाल में श्री गौराङ्ग महा-प्रभु ने भी 'स्त्री-भाव' से 'भक्ति' की थी।

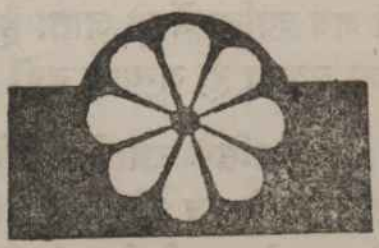

नारद-प्रोक्त

भक्ति-सूत्र

भक्त के लिए 'भक्ति' परमात्मा में परम 'प्रेम'-रूपवाली है। 'भक्ति' का स्वरूप अमृत है अर्थात् भक्ति अमरत्व या मोक्ष देने वाली है। भक्ति को प्राप्त करके भक्त सिद्ध अर्थात् कृत-कृत्य होता है, तृप्त होता है।

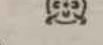

'भक्ति' को प्राप्त करके भक्त को न तो किसी वस्तु की इच्छा होती है, न किसी वस्तु का शोक होता है और न किसी वस्तु से द्वेष होता है। भक्ति की प्राप्ति से भक्त संसार की किसी वस्तु में न तो रमता है, न ही उसके प्रति उसे उत्साह होता है।

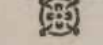

'भक्ति' को जानकर भक्त, भक्ति के आनन्द से उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध अर्थात् निष्क्रिय हो जाता है और सदैव अपनी आत्मा में मग्न रहता है।

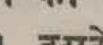

'भक्ति' में भक्त परमात्मा को छोड़कर और किसी दूसरी वस्तु की इच्छा नहीं करता। दूसरे शब्दों में भक्ति का स्वरूप निरोध या त्याग भी है।

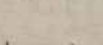

कर्म इस लोक और पर-लोक के कल्याण के लिए किए जाते हैं, परन्तु भक्त को 'भक्ति' छोड़ और किसी बात की चिन्ता नहीं रहती।

भक्त द्वारा परमात्मा में अनन्य 'भक्ति' और अनन्य 'भक्ति' की प्राप्ति में विरोध या रुकावट उत्पन्न करनेवाली वस्तुओं के प्रति उदासीनता, भक्त का त्याग कहलाती है। परमात्मा के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का त्याग 'अनन्यता' कहलाती है।

'भक्ति'-मार्ग में परमात्मा-प्राप्ति के अनुकूल कर्मों का पालन करना चाहिए और जो कर्म विरोध उत्पन्न करते हों, उनके प्रति उदासीन भाव रखना चाहिए। 'भोजनादि कर्म' शरीर रहते तक करते रहना चाहिए।

महर्षि पाराशर व्यास के मतानुसार—'ईश्वर-पूजा आदि में गाढ़ प्रेम होना—यही 'भक्ति' है।'

गर्ग ऋषि के मतानुसार—'गुण, कीर्तन आदि कहने-सुनने में गाढ़ प्रेम होना'—यही 'भक्ति' है।

शाण्डिल्य ऋषि के मतानुसार—'अखण्ड, अविच्छिन्न आत्म-रति या आत्मा में लीन होना'—यही 'भक्ति' है।

ब्रह्मर्षि नारद के मतानुसार—'सर्व कर्मों को ईश्वर को अर्पण कर देना और उसके थोड़े भी विस्मरण में परम व्याकुलता का अनुभव करना'—यही 'भक्ति' है।

भक्ति-योग

गीति

प्रेम विना हरि रीझे क्यां, वीणा ने मृदंग नादे तो,
कन्या-दान फलो शूं पामे, जो ते मृदंग ना, दे, तो। १

प्रेम के बिना प्रभु कैसे प्रसन्न हो सकता है ? जैसे, मिट्टी की गुड़िया का दान करने से कन्या-दान का फल कभी नहीं मिल सकता, वैसे ही प्रेम के बिना वीणा और मृदङ्ग बजाने से प्रभु कभी प्रसन्न न होंगे।

गजल

गमे कर योग तूं प्यारा, धरी दृष्टी भृकुटि चक्रे,
गमे तो नाम-रूपादि, गणी मिथ्या निहारे तूं। २

प्यारे, तू भृकुटि-चक्र के बीच में दृष्टि करके चाहे जितना निरीक्षण करे, या योग का अभ्यास करे या यह सब जो दिखता है, उसको नाम-रूप मान कर विश्व को मिथ्या समझे—

रही व्यापी अणु प्रति मां, महा ज्योति निरंजननी,
एवूं आ तत्त्वनां सत्ये, रमी अन्तर विचारे तूं। ३

या अणु-अणु में प्रभु की महा-ज्योति व्याप्त है, ऐसे तत्त्व के ज्ञान का अन्तर में विचार करे, या—

प्रभू नहि मूझ थी न्यारो, सदा ते हूँ सदा हूँ ते,
धरीने धारणा एवी, शिवोऽहं शं पुकारे तूं। ४

प्रभु तुझसे अलग नहीं है, ऐसा विचार करे; या जो वह है, सो तू है; या जो तू है, सो वह है अर्थात् तुम दोनों में कुछ अन्तर नहीं है—इस प्रकार की धारणा रख कर विश्व के कल्याण करनेवाले 'शिवोऽहं', 'शं' या 'अहं ब्रह्मास्मि' शब्द भले ही बोल, या—

अरे पण ते हशे हूँ ते, थये जाणी शकूं तेने,
जमावी तत्त्व सद्-गुण ना, गुणी थइ गुण वधारे तूं। ५

सद्-गुण के तत्त्वों को अपने में जमा कर अपने में गुण को भले ही बढ़ा ले, परन्तु मुझे तभी अनुभव होगा, जब मैं उनका जैसा ही बन जाऊँ।

परन्तु ज्यां सुधी प्रेमे, रँग्या रंगे न लागे तूं,
वहाणे उठती लहेरे, सनमना गुण न गाये तूं। ६

जब तक तेरे चित्त में प्रेम की लहरें नहीं जागतीं अर्थात् जब तक तू प्रभु के प्रेम के रंग में नहीं रँगता और जब तक तू सबेरे उठती हुई प्रेम की लहरों में एक-चित्त होकर प्रभु के गुणों का गान नहीं गाता, तब तक इस प्रकार सोचने-विचारने से कुछ नहीं होगा।

भरेला प्रेम दरिया नूं, खरूं जल जो न जाणे तूं,
थयां ना प्रेमना दर्शन, वृथा शिर तो पचावे तूं। ७

यदि तू प्रेम के समुद्र में रहते हुये सच्चे जल को नहीं समझ सका और तुझे प्रेम का दर्शन नहीं हुआ, तो तू वृथा ही सिर फोड़ रहा है।

भक्ति-रहस्य (गजल)--प्रेम-तरङ्ग

वसेला विश्व मायाना, वनोमां इन्द्रनूं उपवन,
फली फूली रह्युं शूं, चन्दनोना गन्धनूं उपवन। ८

इस माया के विश्व में वर्तमान वनों में इन्द्र का एक उपवन था। यह उपवन फूलों और फलों से परिपूर्ण था। इसमें चन्दन की विचित्र सुगन्धि भी भरी हुई थी। यह जगत् भी माया का एक उपवन है। प्रकृति के न्याय के अनुसार जहाँ सुगन्धि रहती है, वहाँ कहीं-कहीं कचरों की सड़न भी गंध देती है।

खिलावे मानवी पुष्पों, विषयनूं वापरी खातर,
जमावे ने उपाडे काल, माली मोजनी खातर। ९

इस उपवन में काल-रूपी माली अपनी मौज के लिये विषय-रूपी खाद डालकर मानव-रूपी पुष्प को खिलाता है, तोड़ता है और बुरा दिखने से फेंक भी देता है।

सदा आ कर्म भूमी मां, गुलो शूं खेलतां खीले,
अहा ! पण खुदनुमाई थी, खुदा ना खार क्यां झीले। १०

इस विश्व के काल-रूपी माली के बगीचे में, याने कर्म-रूपी भूमि में अच्छे-अच्छे मानव-रूपी पुष्प खिलते हैं, परन्तु अपनी सुन्दरता और सुवासितता के अभिमान में ईश्वर को भूल जाते हैं और उनको प्रकृति के धक्के खाने पड़ते हैं।

बचे जो खार थी त्यां, सर्प काला काम-क्रोधादि,
धरी बाँधे नफस ना, झेरनी त्यां पाथरी यादि। ११

यदि मानव प्रकृति की नाराजी या धक्के से बच जाय, तो बगीचे में विद्यमान काम-क्रोधादि रूपी बड़े-बड़े साँप अपने विषय-रूपी विष की फुसकार से इन्द्रियों को जकड़ कर बाँध लेते हैं।

अरे गुल ओ ! सजा तारी, मजामां जो जरा जागी,
सनम थी आरजू करने, सुलेहना अंक ले मागी। १२

अरे, ओ पुष्प-रूपी मानव ! तू अपनी मौज में से जरा जाग कर देख तो कि तुझे कैसी सख्त सजा मिल रही है ! इस सजा से बचने के लिए तू सनम से प्रार्थना कर सुलह की शर्त को माँग ले, जिससे सजा की आफत से तू बच जाय।

अरे आ काल माली, मालनी सोये रफा चाहे,
बने ते केम ? पण हा—कन्थना कोटे जवा चाहे। १३

परन्तु सनम तुझे सजा दिये बिना केवल माँगने से सुलह की शर्त दे देगा, इसका विश्वास नहीं है, क्योंकि काल-रूपी माली फूलों को एक डोरे में गुहने के लिये सुई लेकर आराम से बैठा है, पर क्या सचमुच माली सुई डालकर हार गुहेगा ? ऐसा भी हो, तो उसमें एक लाभ ही होगा कि यह हार तेरे स्वामी (जिसकी तुझे लगन लगी है) के गले में जाकर पड़ेगा।

अगर तो काममां तारूँ, जीवन आवे वफा लावे,
मली ने खाकमां पाछो, सनमनूं कण्ठ दीपावे। १४

यदि ऐसा हुआ, तो तेरा जीवन खाक में मिलने पर भी उपयोगी होगा क्योंकि तू सनम के कण्ठ को शोभा देगा।

अहा ! बस जीववू ते आ,
खिजर मां लूटवी ब्हारो,
खिजर क्यां ? जिन्दगी क्यां ?
दुःख क्यां ? दुनिया मले म्हारो। १५

यदि ऐसा हुआ, तो यही सच्चा जीवन है क्योंकि इस रीति से जीवन की कीमत मिल जायगी। जैसे पतझड़ ऋतु में भी बसन्त की बहार मिलेगी। यदि ऐसी वस्तु सचमुच मिल जाय, तो फिर पतझड़-रूपी जिन्दगी या दुःख की दुनिया की किसको परवा है ? जब श्री गुरु ने प्रेरणा कर साधक को चेता दिया कि काल-रूपी माली क्या करनेवाला है, तब साधक धैर्य-पूर्वक काल से कहने लगा—

अरे ओ मालिडा ! तोडे, भले तूं खीलतां मुजने,
धरीने सोयनां कांटे, भले तूं छेदजे मुजने। १६

हे माली, तू मुझे खिलने से पहले तोड़ कर सुई की नोक से भले ही छेदे—

भले पुष्पो बिजा साथे, लपेटी भेरवी ने तूं,
बनावी हारना रूपे, सदाने बाँधजे पण तूं। १७

या सदा के लिये डोरे में दूसरे फूलों के साथ लपेट कर उसका हार बनावे,

अरे जालिम ! कगरतानी, विनन्ती दीन आ दिलनी,
मुंझाता प्यार ना पन्थे, पडेला पन्थि आ दिलनी। १८

पर हे जालिम, इस आजिजी करते हुए, घबराये हुये, प्यार के पन्थ में पड़े हुए पन्थी के दिल की नम्र विनय है कि—

विनन्ती सांभली काने, जरा टुक ध्यान-धारामां,
दयानी लागणी लावी, अगर दिल होय तारामां। १९

कान से सुन कर, ध्यान में रख कर, यदि तेरे दिल में कुछ दया हो, तो मुझ पर दया दिखा कर—

विनन्ती एटली मारी, पराणे प्हेरमां लेजे,
बनाव्यो हार तें मुज थी, सनमना कंठमां देजे। २०

मेरी इतनी बिनती ध्यान में लेना कि मेरा जो तूने हार बनाया है, उसको सनम के कण्ठ में जरूर पहनाना।

विनन्ती तूं नहीं माने, अरे दाया नहीं तूने,
अरे ओ काल ! जालिम तूं, तकाबी क्यां मले तूंने। २१

पर हे काल, तू बड़ा जालिम है। मैं वृथा तुझसे प्रार्थना करता हूँ क्योंकि मुझे विश्वास है कि तू मेरी कुछ सुननेवाला नहीं क्योंकि तेरे दिल में दया नहीं है। फिर मेरे जैसे गरीब से तुझे हार का बयाना भी मिलनेवाला नहीं।

परन्तु इश्क जो साचो, सनममां प्रेम छे म्हारो,
तुने नाणुं चुकावी हाथ, थी हैये धरे प्यारो। २२

खैर, कुछ हर्ज नहीं। यदि सनम में मेरा सच्चा प्रेम होगा, तो सनम ही तुझे हार की कीमत चुका कर हार खरीद लेगा और अपने आप ही अपने गले में पहन लेगा।

अहा ओ ! प्रेम, ओ तूं ! प्राणना अन्तर तणो जादू,
अहा आनन्द ना झरणे, झरी व्हेतो महा जादू। २३

फिर साधक प्रेम के लक्ष्य में आकर निश्चयात्मक रूप से कहने लगा कि अहा प्रेम ! तू मेरे प्राण के अन्दर रहनेवाला जादू है। तू आनन्द के झरने में झरता हुआ महान् जादू है।

गुरू थई प्रेमना महा-मन्त्रनो, उपदेश प्रेमीने,
अहा ओ तूं कहे व्हाला, सम्भल हुशियार प्रेमी ने। २४

हे प्रभु, तू गुरु बन कर प्रेम के महा-मन्त्र का उपदेश प्रेमियों को करता है। तू जिसको प्रेमी बनाता है, उसको चेताता है कि सँभल, यह काँटे से भरा हुआ जग है। इसको भूल मत जाना। इसलिये होशियारी से चल।

कसीने कण्ठ झालीने, महा आपत्तिमां ताणी,
मुको शूं आ कसोटी ये, परीक्षा शूं जुओ जाणी। २५

पर प्रभु, तू इतना सरल भी नहीं है। तू तो प्रेमी को कण्ठ से कस कर, पकड़ कर प्रत्येक आपत्ति का अनुभव करा देता है, जिससे पीछे से दुःख न हो, परन्तु हे प्रभु ! तुम मेरी ऐसी परीक्षा करके क्यों सताते हो ?

अहा चरणे मुओ जे, प्रेमनी झाले बलेलो जे,
अरे आ शूं ? मरेला ने, वली मारे मले शूं जे। २६

जो पहले से ही चरणों में मरा पड़ा है और प्रेम-रूपी अग्नि में जला हुआ है, ऐसे मरे हुए को मारने में तुमको क्या मिलता है ?

बलेला प्रेमना झेरे, कपाता मुर्गशा तफडी,
अरे ओ गारुडी हेते, जिवाडो वाजवो नफरी। २७

हे प्रभु ! मैं तुम्हारे प्रेम-रूपी विष में जल रहा हूँ और एक कटते हुये मृग की तरह छटपटा रहा हूँ। तुम प्रेम की बाँसुरी में गारुड़ी बजा कर विष से जले हुये को जिलाओ।

जुओ आ वांसलीमां, गारुडी मन्त्रो वगाडे छे,
सुणो शूं ते कहे-हा ! आ, महा मधुरी वगाडे छे। २८

फिर थोड़ी ही देर में साधक को बाँसुरी में विष को उतारनेवाला गारुड़ी मन्त्र सुनाई देता है और वह कहने लगा कि वाह प्रभु ! बहुत मधुर बंसी बजा रहे हो।

अहा आ मीठडा स्वरनो, सुधा-मय धार आवी शूं,
अहो प्रेमे तडफता ना, दझेला कान लावी शूं ? २९

इस प्रेम से छटपटाते हुये के, इस जले हुये के कान में इस मीठे स्वर की अमृत-मय धारा का सिंचन हो रहा है।

कहे छे प्रेम थी घेला ! सदा ते आ रसीली छे,
रसीला प्रेमना व्यंगे, प्रिया प्रेमे कसेली छे। ३०

तब सनम कहता है कि प्रेम के पागल ! मेरी यह बाँसुरी रसीली है और प्रेम करनेवालों को प्रेम के व्यंग में कस देती है।

मरीने जीवननो मन्त्र, रस-रसता फटाणा छे,
हलावे चित्त ने पेसी, घड़े ऊंडे डटाणा छे। ३१

प्रेम का व्यंग तो मर कर जीने का मन्त्र है। वह चित्त को हिलाकर उसमें घुस कर बहुत गहरा गड़ा हुआ है।

मरीने जीवननो यन्त्र, छे प्यारा तणूं चुम्बन,
मधुराधर लखायेलूं, अमी आँखे महा पूजन। ३२

मर कर जीने का यन्त्र प्रियतम का चुम्बन है और वह मीठे अधरोष्ठ से लिखा हुआ अमृत-भरी आँखों के महा-पूजन का विधान है।

मरीने जीवननो तन्त्र, बाझी प्राण आलिङ्गन,
जहाँ यन्त्रो तथा मन्त्रो, फुरे आशिक उठे छन-छन। ३३

मर कर जीने का तन्त्र सनम से चिपक कर प्राणालिङ्गन करने में छिपा है। उस प्रिय आलिङ्गन से सम्पूर्ण मन्त्रों और यन्त्रों की सिद्धि होती है और आशिक छन-छन करता उठ बैठता है।

महा-माया-पती ! शूं नाथ, भक्तों ने खमाडे तूं,
हसावे तूं, रडावे तूं, रमाडे तूं जमाडे तूं। ३४

हे महा-माया-पति ! भक्तों को इतना सताना कहाँ की नीति है ? तू भक्तों को हँसाता है, रुलाता है, खेलाता है, खिलाता है, यह सब तू करता है।

हजारों खेल देखाडी, खरी खाके खरावे तूं,
पछी पाछो उठाडी, प्रेमिने खोले चढावे तूं। ३५

इस प्रकार तू भक्त को हजारों खेल दिखा कर खाक में मिला देता है और जब वह परिपक्व हो जाता है, तब तू उसको उठाकर कलेजे से लगाकर गोद में बैठाता है।

सदा आनन्दनी लहेरे, चढावी ने लडावे तूं,
रहे जो तूजने वलगी, खरो मारग बतावे तूं। ३६

बाद को आनन्द की लहरों में चढ़ा कर प्रेम से लाड़ करता है और जो भक्त आपत्तियों में भी तुझे पकड़ कर रहता है, उसको तू सच्चा मार्ग दिखाता है।

धरी दृढ़ता तणो खञ्जर, महा-रिपु द्वैत काटे तूं,
निजानन्दे अहा ! रोली, महा जंजाल काँपे तूं। ३७

दृढ़ता-रूपी खंजर हाथ में लेकर तू अपने भक्तों के सभी द्वैत-शत्रुओं को काट डालता है और अपने आनन्द में भक्त को डुबा कर उसके सारे बड़े-बड़े झंझटों को दूर करता है।

जुओ आ स्वातिना बुन्दे, बनेलूं प्रेमथी गोती,
कहाडयूं में गयूं पण ते, प्रियाना कण्ठमां 'मोती'। ३८

देखो, यह स्वाति के बूँद से बना हुआ मोती (प्रकाश) मैंने ढूँढ़ कर हाथ में लिया, पर वह उड़ कर प्रिया के कण्ठ में चला गया।

एकाग्रता-भाव तथा दर्शन

महा-वनमां भटकतो आ, तपस्वी पश्चिमे आवी,
ऋतु वर्षा तणी लहेरे, तणातो तान तोडे छे। ३९

इस उपदेश के लेखक का कहना है कि प्रभु को जानते हुये भी उसको एक बार प्रभु के वियोग का अनुभव हो गया। तब वह वनों में भटकता-भटकता, हिन्द के पश्चिमी प्रदेश में आ पहुँचा। उस समय वर्षा ऋतु थी। उसकी लहरों में खिंच कर वह प्रभु के भजन गाने लगा।

रमी गोदा गदा पाँचे, वटोमां राम सीताना,
करी दर्शन चढ्यो मुम्बा, पुरी ज्यां जाल जोडे छे। ४०

इस प्रकार भटकता हुआ वह गोदावरी नदी के पास स्थित पञ्चवटी में आया और वहाँ राम-सीता का दर्शन कर जाल से भरी हुई मुम्बापुरी (बम्बई) में आया।

जडायो श्री कनैयानी, गुहाने मोखरे जईने,
समयथी लाग पामीने, थतां छूटो गयो उडी। ४१

मुम्बई में श्री कन्हैयालाल के घर के दरवाजे पर आकर नग की तरह जड़ गया। थोड़े समय के बाद फिर मौका देखकर वह वहाँ से चल दिया और—

फरफूं पाँख फफडावी, मनो-मय माननना बागे,
महा श्री मोहनी रात्रे, पहेरी पोपटे चूडी। ४२

जैसे शुक पंख फड़फड़ा कर भागता है, वैसे ही वह मनोमय मान-रूपी बगीचे में आकर ठहरा और जन्माष्टमी के दिन रात को प्रभु श्री का ध्यान करता हुआ आनन्द में इतना मस्त हो गया कि एक सौभाग्यवती स्त्री को अपने सौभाग्य की प्रेममयी चूड़ी पहनने से जो आनन्द मिलता है, उसका वह अनुभव करने लगा।

अब लेखक ने यहाँ जो वर्णन किया है, वह उसके योगी-रूप का अनुभव है—

ह्वाला कृष्णना रासे, रँगेली कालजूं धोती,
अहा आ प्रेमनी धारा, कहूँ के नाथनी चूडी। ४३

भगवान् कृष्ण के रास से रँगा हुआ कलेजा गोपी धोती है, ऐसा अनुभव वह करने लगा और सोचने लगा कि इस आनन्द को प्रेम की धारा कहूँ या नाथ की सौभाग्य-चूड़ी का आनन्द कहूँ।

तणातो प्यार पारावार, रेलं छेल छोलो मां,
गयो भूली जगतना, जागता बापा तणी मूडी । ४४

उस समय लेखक का प्रेम का भाव बहुत बढ़ गया था। वह प्रेम-नदी के पारावार-पूर में निरन्तर लहरों की तरंगों में तैरने लगा और इतना मस्त हो गया कि उसके गुरु ने ज्ञान-योगादि जो कुछ कहा था, वह सब भूल गया।

परन्तु कर्म तूफाने, अचानक हचमचावीने,
जगाड्यो ते बिचारा ने, उठ्यो ते झूमती आँखें । ४५

अब उस मस्ती से कर्म-रूपी तूफानों ने उस योगी को अचानक जगा दिया और जैसे नशा-भरा हो, वैसी आँखों से वह जाग उठा।

अरे आ शूं, गयो क्यां, प्राणनां जे प्राणथी ह्वालो,
करूँ शूं? जाउँ क्यां गोतूं? मले क्यां? विश्व आ झांखे । ४६

वह प्रेम की मस्ती में जाग उठा था। इसलिये चारों तरफ अपने प्रेमी को ढूँढ़ने लगा, पर प्रेमी का दर्शन न होने से जोर से बोलने लगा—'अरे, यह क्या ? मेरे प्राण से भी प्रिय मेरे प्रियतम कहाँ चले गये ? अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? इस तेज-रहित विश्व में मेरा प्रभु कहाँ मिलेगा ?'

पड्यो रोई प्रभु हे हाय ! जीवन प्राण आवोने,
करी कालूं गया क्यां ? आँधलानी आँख लावोने । ४७

इतने पर भी कुछ न हुआ। तब वह चिल्ला कर रोने लगा और कहने लगा कि—'हे प्रभु, हे जीवन के प्राण ! आप आओ,

कहाँ चले गये ? अब तक मैं आपके प्रकाश-मय स्वरूप को देख रहा था, परन्तु आपके चले जाने से सब काला-ही-काला दिख रहा है। मैं अंधा-सा हो गया हूँ। मेरी आँखें वापस दीजिये, पहले की तरह मैं उस प्रकाश को देख सकूँ।'

अरे मारा जीवनना चोर ! ओ ! आ शूं करो टीखल,
छुपाव्या हो हृदयनी आ, गुहामां तो बतावोने। ४८

फिर वह जरा मिजाज गरम करके कहने लगा—'मेरे जीवन के चोर, यह क्या हँसी कर रहे हो ! मुझे दिखाओ, मेरे हृदय की गुहा में छिप कर तो नहीं बैठे हो ?'

'प्रभू बोलो, हरे बोलो, रमत आ ना गमे मुजने,
गमत जो होय करवी तो इशारा थी बतावोने। ४९

'बोलो, आप कहाँ चले गये ? मुझे आपका यह खेल पसन्द नहीं है। यदि आपको यही खेल करना है, तो मुझसे इशारे से कह दीजिये कि मैं खेलना चाहता हूँ।'

अगर ना आववूं धारो, दिले टुक म्हेर आणीने,
सिसकताने तडफताने, मरण आपी पतावोने। ५०

'यदि आप आना नहीं चाहते तो दयामय ! आपका दिल बड़ा है। मेरे ऐसे छटपटाते-सिसकते को मृत्यु देकर खतम कर दो, जिससे छुटकारा हो जाय।'

अरे ओ ! कानुडा ! कालो, कलापिजे कोकिला कूजे,
पपीहा मेघनो गडगड, सुणीने कालजूं धूजे। ५१

'अरे, ओ कालुडा (भ० कृष्ण) ! देखो तो आप अकेले ही, काले नहीं हैं। यह मोर, कूजती हुई कोयल और पपीहा—मुझे सब काला-ही-काला दिख रहा है। इस एकान्त वन में मेघ का गड़गड़ाना सुन कर मेरा कलेजा काँप रहा है।'

धरी शशिखंडना धनुषे, केकारी कूकनां बाणो,
अरे ! आ पुष्प-धन्वा, मारतो पण मोतना सूझे। ५२

'इस चन्द्र-रूपी धनुष पर कामदेव कोयल की कू-कू और पपीहा के पीयु-रूपी शब्द-बाण मार रहा है, तो भी मुझे मृत्यु क्यों नहीं सूझती ?'

बलेला इश्कनी आगे, दझेला हायनी झाले,
मरेला मानिनी मारे, गलेला प्रेमना हिथी। ५३

'हे प्रभु ! देखो, मेरी क्या दशा है ! मैं प्रेम की आग में जल रहा हूँ और हाय के जाल में जल रहा हूँ ! प्रेम की मार से मर रहा हूँ और प्रेम की बरफ से गल रहा हूँ।'

हृदय फाटी थयूं चूरो, पडी पत्थर परे प्यारा,
जुदाई ना महा-वज्रे, फटाव्यूं धूलना क्रमथी। ५४

'हे प्रियतम ! मेरा हृदय पत्थर पर टकरा कर फटकर चूर हो गया है और वियोग-रूपी वज्र की मार से धूल की तरह उड़ने लगा है।'

पड्यो मूर्छा, फरी जाग्यो, उठ्यो ने ढूंढतो चाल्यो,
पडे पण उठतां फावे, भरेलो प्रेमना जोशे। ५५

इस प्रकार कहते-कहते वह गिर पड़ा और मूर्छित हो गया। फिर जाग पड़ा और अपने प्रेमी को ढूँढ़ता हुआ आगे चलने लगा। उसका कलेजा प्रेम से भरा हुआ था। इसलिये बार-बार गिर जाता था। फिर उठ कर चलने लगता था।

कहीं पग जाय छे लईने, नहीं देखे छतां चाले,
अरे आ प्रेमनो घेलो, ह्वाला ह्वालने जोशे। ५६

उसके पैर कहाँ जा रहे थे, यह दिखता नहीं था, पर वह चल रहा था। प्रेम में पागल अपने प्रेम के जोश में आगे बढ़ रहा था, परन्तु उसके पैरों में ताकत नहीं थी और कुछ होश भी नहीं था।

बबडतो प्रेम जे बोले, कळतो कालने खोले,
गबडतो गेंद ने तोले, ससरती साँस हा ! बोले। ५७

वह प्रेम के भाव में कुछ बड़बड़ाता था और काल की गोद में पड़ा हो, वैसी करुणा से चिल्लाता था। जैसे एक गेंद लुढ़कता हो, वैसे ही वह लुढ़कता जाता था और 'हाय !' की आवाज से निःश्वास छोड़ता जाता था।

दबडदड दोडतो डोले, कदी खखडी हसे होले,
कदी रडतो वदन मोले, अहा लूंट्यो दिने घोले। ५८

कभी वह लड़खड़ाता हुआ दौड़ता था, तो कभी धीरे—कभी अट्टहासपूर्वक हँसता था। कभी दीन बन कर रोता था और जैसे दिन के उजेले में लूटा गया हो, ऐसा अनुभव कर रहा था।

कदी जई वृक्षने पूछे, कदी सर्पादिने मृगने,
मृगाधिपने महावनना, पशू आकाश ना खगने। ५९

इस प्रकार उसकी दशा खराब होती गई। वह अपने प्रेमी का हाल कभी पेड़ से, तो कभी सर्प से, मृग से, मृग-राज से और महा-वन के पशुओं और अवकाश में उड़नेवाले पक्षियों और—

लता-पत्रादि पुष्पोंने, फलोने मेघने जलने,
अकाशे चूमता ऊँचा, शिखर पर्वत तथा तलने। ६०

लता, पत्तों, फूलों, बादलों, वर्षा और बड़े-बड़े पहाड़ों, जो आकाश को छू रहे हैं, उनके शिखरों से और तराइयों से पूछने लगा।

अरे, ओ पामरो म्हारा हृदय नो चोर चोराव्यो,
बतावो तो कुशल आजे, नहीं तो केर छे कालो। ६१

जब उनसे कुछ जवाब नहीं मिला, तब गुस्से में आकर वह कहने लगा कि 'अरे—ओ पापियों! तुमने मेरे हृदय के चोर को चुराया है। उसे बताओगे, तब तो कुशल है, नहीं तो मैं बड़ी आपत्ति फैला दूँगा।'

उठाडूं दीन दुनिया ने, जई बोलूं समुन्दरमां,
समुन्दर जो छुपावे तो, पछी आ पेर संभालो। ६२

'मैं कैसी आपत्ति खड़ी करूँगा, उसे भी सुन लो। मैं दुनिया को उठा कर समुद्र में डुबा दूंगा। यदि समुद्र ने मेरे प्रियतम का हाल न कहा, तो—

सुकावूं योगनी अग्नी, उडावूं अग्नि ने पवने,
पवनने शून्यमां रोकी, करूँ हूँ स्तब्ध आ खगने। ६३

'योग को अग्नि से समुद्र को सुखा दूँगा। अग्नि को पवन में उड़ा दूँगा और पवन को शून्य में रोक कर इस अवकाश को स्तम्भित कर दूँगा' (यह भूत-शुद्धि का भाव है)।

अरे आकाशने रोली, धरू हूँ शब्द मां घोली,
समय गति सर्वने चोली, करूँ संहार आ जगने। ६४

'मैं आकाश को मसल कर शब्दों में घुला डालूँगा। इतना ही नहीं, समय, गति आदि सबको मसल कर इस जगत् का संहार कर डालूँगा।'

अरे ओ बापला ह्वाला, जरी दिलमां दया लावो,
कही बोले कदी मीठूं, पडी आडो जमी वाटे। ६५

इस प्रकार वह क्रोध में बोला। फिर शान्त होकर कहने लगा—'अरे ओ प्रियतम! आप मेरे लिये अपने दिल में थोड़ी तो दया लाइये।' ऐसे कभी कड़वे और कभी मीठे शब्द बोलने लगा। फिर जमीन पर आड़े लेट कर वह हाथ जोड़कर पेड़-पत्तों, पशु-पक्षियों आदि से कहने लगा—

महारो प्राणथी प्यारो, बतावो माँगशो ते हूँ,
तमोने माँगता आपूँ, बतावो क्यां कई वाटे। ६६

'मेरा प्राणों से भी प्यारा प्रियतम खो गया है। यदि तुम मुझे बताओगे, तो मैं तुमको जो कुछ माँगोगे, वह दूँगा। यह बताओ कि वह किस रास्ते से गया है?'

गयो ते प्राण चोरावी, लूंटी मारी हणी मुजने,
मलावो तो दऊं लावी, कहो जे जोइये मुजने। ६७

'वह मेरे प्राणों को चुरा कर, मुझको लूट कर, मार से घायल करके चला गया है। उसको अगर तुम मिला दोगे, तो मैं जो चाहोगे, वह तुमको ला दूँगा।'

मलयो उत्तर न त्यां कांइ, झझकतो आँसुये झरतो,
ककलते कण्ठ आलापी, दिशाओ पञ्चमे भरतो। ६८

फिर जब कोई जवाब नहीं मिला, तब वह आधे पागल की तरह आँसू गिराता हुआ और करुणा-भरे कण्ठ से पञ्चम स्वर से दसों दिशायें गूँज उठें, इस प्रकार चिल्लाता हुआ रोने लगा।

चढयो सह्याद्रिना शिखरे, महा-शोभा भर्यू उपवन,
वसे ज्यां मोहना खाडे, तरेला तारता मुनी-जन। ६९

जब किसी ने उसकी धमकियों और विनयों को नहीं सुना, तब वह सह्याद्रि के शिखर पर चढ़ गया। उसको सह्याद्रि एक अनुपम उपवन लगा। इस पहाड़ के ऊपर मोह के खड्ड को पार कर दूसरों को उबारनेवाले बड़े-बड़े तपवी रहते थे।

ठरी उभो ठेकाणेथी, समेटी ने खरेलँ मन,
अहा शूं इन्द्रथी स्वर्ग, रचायूँ आज नन्दन-वन। ७०

अब वह अपने बिखरे हुये मन को समेट कर चुपचाप वहाँ खड़ा रहा। उसे देखने पर उसको लगा, मानों वह इन्द्र का स्वर्ग में रचा हुआ बगीचा है।

जुओ लीली जिमी खिलेल, पुष्पो ये खिले केवी,
कलम कीधा कलेजामां, प्रियानी लागणी जेवी। ७१

वहाँ की जमीन हरियाली से एवं खिले हुये पुष्पों से खूब शोभायमान हो रही थी और जैसे कलम किये हुये कलेजे में अपने प्रियतम के प्रति संलग्नता उभरती है, वैसे ही वह जमीन पुष्पों से खिल रही थी।

खिल्यां पुष्पो उठीने, पाथरी पाछा सूए केवा,
विरहि प्रेमे उठीने हा प्रिया ! बोली पड़े जेवा। ७२

जैसे वियोगी अपने प्रेम के जोश में मस्त बन कर, अपने प्रिय को सम्मुख न देखने से मूर्छित हो जाता है, वैसे ही खिले हुये पुष्प फिर मुरझा कर सो से गये दिखते थे।

मणी पन्ना समी लीली, छतां पण भूमि सूकी छे,
पियारा नाथना लीला, रङ्गेला प्रेमोथी जाणे। ७३

वैसे ही सह्याद्रि की जमीन पन्ने-जैसी हरी होने पर भी उसको सूखी लगी।

प्रियानूं चित्त छे लीलूं, परन्तु विश्व वहेवारे,
जगतना भावथी सूकुं, रहेलूं तूं न शूं जाणे। ७४

जैसे अपने प्यारे प्रियतम का चित्त प्रेम से रँगा हुआ हरे रङ्ग का है, पर विश्व के प्रवाह में बाह्य व्यवहारों में सूखा लगता है—

अहा आ रङ्ग बेरङ्गी, जमी पर पाथर्या पुष्पो,
वनस्पतियो थकी पाक्यां, खिलेला शोभता पुष्पो। ७५

उस जमीन के ऊपर वनस्पतियों में सुशोभित और रङ्ग-बिरङ्गे पुष्प खिल कर बिछे हुये थे।

जुओ जाणे रँगीली रङ्ग, भूमिमां बिछावेलो,
गलीचो भावना अङ्ग, प्रियाना भाव भावेलो। ७६

मानो अपने प्रियतम के अत्यन्त प्रिय रङ्गों से रँगा हुआ कालीन जैसा, उस रङ्ग-भूमि में बिछा हुआ था।

लताओ वृक्षथी वलगी, नमेली फुलना भारे,
मनोगत भावथी नीचे, निहाली नाथने बाझे। ७७

किसी जगह पर लतायें वृक्ष से लिपट कर चढ़ रही थीं और वे फूलों के भार से नीचे झुक गई थीं, तो ऐसा मालूम होता था, मानों अपने मन के भावों से लज्जित हो वे दोहरी होकर, अपने प्यारे का आलिङ्गन कर रही हों।

फुलोना भारे लटकेली, लताने ऊँचके शाखा,
प्रिया आलिङ्गने, कुच भार, थारी चुंबतो आजे। ७८

फूलों के भार से लटक कर झुकी हुई लता को देखकर यह लगता था, मानों यौवन-भरी प्रिया के कुच-भार का आलिङ्गन कर वृक्ष लता को चूम रहा है।

जुओ आ वृक्षनी छाया, तले पंथी विसामो ले,
उठे ने पांदडा तोड़े, हणी पत्थर फुलो पाडे। ७९

इस प्रकार वह उपवन का सौंदर्य देख रहा था कि उसको एक वृक्ष की छाया में एक पथिक विश्राम करता हुआ दिखा।

इतने में वह पथिक उठा और वृक्ष के पत्ते तोड़ने लगा तथा पत्थर मार कर उसके फूल-फल तोड़ने लगा।

पछी ते लाकडां कापी, लईने ताढमां तापे,
परन्तु आ बिचारूं वृक्ष, बोले ना पडे आडे। ८०

फिर वह उस वृक्ष की सूखी हुई लकड़ी काट कर, उन्हें सुलगा कर तापने लगा। जिस वृक्ष के नीचे बैठ कर उसने विश्राम किया था, उसकी वह दशा करने पर भी, उस वृक्ष ने कुछ भी विघ्न नहीं डाला।

जुओ आ पर्वतो मोटा, सहे वरसाद वा तपने,
कहे ना दुःख कोइ ने, रडे ना जोयता खपने। ८१

देखो, बड़े-बड़े पहाड़ बरसात, पवन और सूर्य के ताप को सहन करते हैं, पर किसी से अपने दुःख की बात कहते नहीं कि इस वस्तु की यहाँ कमी है।

शिरे आवी पडे स्हेवूं, धरीने ढाल दृढतानी,
हजारो शस्त्रनां मारो, पडे पण चूं, चरा, शानी। ८२

अरे, तब मेरा यह रोना भी वृथा है। वृक्ष और पहाड़ की तरह अपने सिर पर जो कुछ आपत्ति आ जाय, उसको सहन करना ही सीखना चाहिये। चाहे एक साथ हजारों शस्त्र अपने पर टूट पड़ें, तो भी चीं-चूँ तक नहीं करनी चाहिए।

अरे ओ साधुओ, साधन तमारू वृक्ष जेवू शूं,
नहीं तो वृक्षथी शीखो, तमोने ते नठारूं शूं। ८३

ऐसा सोच कर वह कहने लगा कि अरे ! साधुओं, तपस्वियों, आपका साधन क्या इस वृक्ष के समान परोपकारी और सहन-शील है ? यदि ऐसा नहीं है, तो वृक्ष और पहाड़ों से सीखने में क्या बाधा है ? ऐसा करने में आप लोगों को क्यों बुरा लगेगा ?

करे जो दुष्ट माठूं पण, तमो मां शान्तिथी चूको,
तदा ते माधुरी मधुरी, सदा चाखो नहीं तो शूं । ८४

यदि आपके साथ कोई बुराई करे, तो भी आप अपनी शान्ति को मत खोना । यदि आप ऐसे समय में शान्ति रखेंगे, तो आप अपनी तपस्या की मधुर माधुरी चखेंगे ।

कहीं झरणा झरे झरझर, झरीने निर बहे निर्मल,
कहीं बे पर्वतोना मध्य, थी धारा बहे धडधड । ८५

उस उपवन में झरनों का निर्मल पानी झरझर शब्द करता हुआ गिर रहा था । कहीं-कहीं दो पहाड़ों के मध्य से पानी की धाराएँ बह रही थीं ।

प्रिया उर मध्यमां लावी, रहेली मालनी हलचल,
बतावे आ बनी तेवी, प्रियाना रूप ने नेचर । ८६

यह दृश्य देख कर ऐसा भास रहा था, मानों प्रिया के गले में मोतियों की माला की हलचल हो रही है, जैसे प्रकृति इस भाव में प्रिया का रूप दिखाती हो ।

एवा रस रासनी धारा, सनमना प्रेमथी वहेती,
रह्यो पीतो बनी अलमत, नी मस्ती, झरी वहेती । ८७

इस प्रकार विचार करता-करता, वह अपने प्रियतम के ध्यान में फिर मश्त होने लगा। अपने प्रियतम के प्रेम की धारा को, पानी के झरने की तरह, प्रेम की मश्ती में अलमश्त बन कर वह पीता हुआ खड़ा रहा।

थइ के ते पडचो गाफिल, जई भू मां पियारे हा !
छिपायेलो तपायेलो, गुमेलो चोर प्यारो हा ! ८८

जैसे-जैसे मस्ती बढ़ती गई, वैसे-वैसे वह गाफिल भी होता गया और अन्त में 'हे प्यारे' कहता हुआ वह जमीन पर गिर पड़ा।

प्रगटियो प्रेमिनूं माथूं, लईने अङ्गमां धारी,
करी चुम्बन महा प्रेमे, मधुर कर कालजे धारी।८९

सहज ही इसी समय, उसके छिपे हुये खोये हुये प्रियतम (चोर) ने प्रगट होकर उसका सिर अपनी गोद में लेकर प्रेम से चुम्बन किया और अपना हाथ उसके कलेजे पर रख कर बोला–

कहे उठ शूं रिसाये छे, गमतमाँ शूं खिजाये छे,
रमत आ आपणी प्यारा, रमे शूं दुःख थाये छे ? ९०

'अरे, उठ खड़ा हो। यह क्या, नाराज होकर क्यों बैठा है ? यह तो हम दोनों का खेल है। इसमें नाराज होने की क्या बात ? क्या तुझे खेल पसन्द नहीं है ? क्या उसमें तुझे दुःख होता है ?

अरे ओ प्राण सम प्यारा, तजीने प्राण रहेवाय,
कहो ते केम ? शूं तूं, चित्तमां खिजी दुखी थाय। ९१

'अरे, तू तो मुझे अपने प्राण के समान प्रिय है। क्या कोई अपने प्राणों को छोड़ कर जी सकता है ? क्या तू अपने मन में गुस्सा होकर दुखी हो रहा है ?

अहो जे हूं, खरो ते तूं, नहीं, कंई भेद छे प्यारा,
अमे बे एक बेकी नी, रमतमां कां फसे प्यारा ? ९२

'अरे, जो मैं हूँ, वही तू है। तेरे-मेरे में कुछ भेद नहीं है। अरे प्यारे, तू ऐसा भेद मान कर द्वित्व के फेर में फँस कर क्यों दुखी हो रहा है ?'

सदा ह्वालू हृदय त्हारूं, अदाथी आपने खोले,
घणे दहाडे मलचा, पण हा ! मली को आपने छोडे ।९३

प्रभु के ऐसे शब्द सुन कर वह प्रभु से कहने लगा कि 'हे प्रभु ! मेरा यह हृदय, जिसके ऊपर आपने हाथ रक्खा है, बड़ी अदा से आपको ढूँढ़ रहा है (अथवा आपकी गोद में बड़ी अदा से पड़ा हुआ है)। आप बहुत दिनों के बाद मिले हैं, तब आपको छोड़ने का किसका मन हो सकता है—

लियो 'मोती' तणा हारो, समर्पे सीपथी गोती,
प्रभु आ हारमां लटकी, रमे ताहरे हृदय मोती। ९४

'हे प्रभु, समुद्र की बड़ी-बड़ी सीपों में से निकाला हुआ यह मोती का हार आपके गले में अर्पण करता हूँ, जिससे हार के बीच में जो मोती लटक रहा है, वह आपके हृदय पर लटकता रहे।'

'भक्ति' का अर्थ

एवं

'भक्ति' के नौ प्रकार

जैसे विभक्त माने है—'अलग किया हुआ' वैसे ही भक्त माने है--'मिला हुआ।'

'भक्ति' माने किसी बड़ी चीज में अपना मन अर्पित करना; मानों व्यापक में अपने अस्तित्व को मिलाने का प्रयत्न करना लेकिन प्रश्न यह है कि प्रभु, जो दीखता नहीं है, उसके साथ मिलकर एक-रस कैसे हो सकते हैं ? आत्मा का परमात्मा से मिलन कैसे हो ?

इसका उत्तर यह है कि प्रभु से देह द्वारा नहीं मिल सकते, लेकिन मन से मिला जा सकता है। मन बहुत चञ्चल है। अतएव उसको भक्ति द्वारा स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिये। जिस आराधना से मन प्रभु-भावना में तल्लीन बनकर प्रभु-मय हो जाय, उसी का नाम 'भक्ति' है।

भक्ति नौ प्रकार की होती है। उनमें से प्रत्येक प्रकार की भक्ति मोक्ष को देनेवाली है—

१—राजा परीक्षित ने श्री शुकदेव जी से कथा सुनते-सुनते तल्लीन बनकर मोक्ष पाया, यह 'श्रवण' भक्ति थी।

२—श्री शुकदेव जी ने प्रभु का गुणानुवाद राजा परीक्षित को सुनाया, यह 'कीर्तन' भक्ति थी।

३—प्रह्लाद प्रभु का स्मरण करते-करते प्रभु में एकाकार बन गए। यह 'स्मरण' भक्ति थी।

४—लक्ष्मी जी पद-सेवा करते-करते एकाग्र हो गईं। यह 'सेवा' भक्ति थी।

५—राजा पृथु पूजा करते-करते प्रभु-मय बन गए। यह 'पूजा' भक्ति थी।

६—अक्रूर भगवान् का वन्दन करते-करते एकाग्र बन गए। यह 'अभिवन्दन' भक्ति थी।

७—श्री हनुमान जी श्रीराम की सेवा करते-करते तल्लीन बन गए। वह 'दास्य' भक्ति थी।

८—अर्जुन ने भगवान् कृष्ण की मित्र-भाव से भक्ति की। यह 'मित्र' भक्ति थी।

९—राजा बलि ने भगवान् के प्रति सर्वस्वार्पण किया। उनके पास जो कुछ था, उसे भगवान् को अर्पण कर वे तद्रूप बन गए। यह 'सर्वस्वार्पण' भक्ति थी।

भक्ति-मार्ग में भक्त अपना मन भगवान् को अर्पित करता है। इससे भटकनेवाले मन का निरोध होता है। मन को कैसे अर्पित करना चाहिए, यह 'बृहद्नारायण' के दृष्टान्त से समझ में आयेगा।

राजा बृहदश्व सौ अश्वमेध यज्ञ करना चाहते थे। लगभग ९२ यज्ञ वे कर चुके थे। उनके गुरु उस समय समाधिस्थ थे।

'राजा १०० यज्ञ पूरा करने पर स्वर्ग का राज्य पाएँगे और तब उनकी आत्मोन्नति मन्द हो जायगी, कारण वे स्वर्ग में एक कल्प तक राज्य करेंगे और क्षीण-पुण्य होते ही वे फिर 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं' के फेर में पड़ जाएँगे। वह सब न होने पाए और राजा सीधे आत्मोन्नति के मार्ग पर चढ़

जायँ',—यह विचार कर उनके श्री गुरु ने एक ब्राह्मण के यहाँ जन्म लिया।

राजा ने जब १०० वाँ यज्ञ प्रारम्भ किया, उस समय उनके गुरु श्री वामदेव जी ६ वर्ष के थे और उनका यज्ञोपवीत हो गया था। भिक्षा माँगने के समय, पिता की आज्ञा लेकर श्री वामदेव जी प्रथम भिक्षा राजा से माँगने गए।

श्री वामदेव का अद्भुत बटुक-स्वरूप, अनुपम कान्ति, हाथ में दण्ड-कमण्डलु इत्यादि देखकर राजा हाथ जोड़ खड़े हो गए।

श्री वामदेव जी ने कहा –'मैं भिक्षा माँगने आया हूँ।'

अश्वमेध-यज्ञ के नियमानुसार राजा ने उनसे इच्छानुसार माँगने को कहा।

इस पर उन्होंने कहा कि—'मैं जो माँगूँ, वह मुझे न मिले, तो क्या होगा ? इसलिये आप पहले सङ्कल्प करें कि मैं जो माँगूँ, वह आप दे चुके।'

'यह बहुत माँगेगा, तो राज-पाट माँगेगा और अश्वमेध करनेवाले को मुँह-माँगा देने के लिए तैयार रहना ही पड़ता है'—यह सोचकर राजा ने सङ्कल्प करते हुए कहा कि 'आप जो माँगेंगे, वह मैंने दिया।'

तब वामदेव जी ने माँगा कि–'जो तेरा है, वह मेरा हो जाय।'

राजा तुरन्त राज्यासन पर से हट गए और वामदेव जी उस पर जा बैठे। आपने दान की दक्षिणा माँगी, तब राजा ने शरीर पर से आभूषण उतारकर वामदेव जी के चरण पर रख

दिए। लेकिन 'जो तेरा है, वह मेरा हो जाय'—इस सङ्कल्प से राजा की सभी चीजें, श्री वामदेव जी की हो गई थीं।

अतएव श्री वामदेव ने कहा कि—'ये आभूषण तो मेरे ही हैं। अब तुम्हारे पास यदि कुछ बाकी रहा हो, तो उसमें से दक्षिणा दो।'

ये शब्द सुनते ही राजा ने सोचा कि वामदेव जी ने उनका अश्व-मेध का सारा पुण्य भी ले लिया है। अब सोचने लगे कि क्या किया जाय।

उन्हें सोच में पड़ा देखकर वामदेव जी ने कहा कि—'खबरदार! कुछ मत सोचो। कारण तुम्हारा मन भी तो मेरा हो चुका है। तुमको मैं विचार तक न करने दूँगा।'

यह सुनकर राजा मूछित हो गये और स्वप्न देखने लगे कि वे मरने के बाद यम के दरबार में पहुँचे हैं। वहाँ उनका बहुत सत्कार हुआ। फिर उनसे कहा गया कि—उनका बड़ा ही पुण्य है और उन्हें स्वर्ग का राज्य मिलनेवाला है, लेकिन कुछ पाप भी है। अतएव वे पहले पाप भोगेंगे या पुण्य?'

उसी स्वप्नावस्था में राजा ने सोचा कि पुण्य के बाद पाप भोगने में तकलीफ होगी, इसलिए उन्होंने पहले पाप भोगने की इच्छा प्रकट की। इस पर वे मरु-भूमि में डाल दिए गए। वहाँ सूर्य की कड़ी धूप और गरमा-गरम बालू से राजा मानो जलने लगे।

उस समय वे विचार करने लगे कि—'मैंने अपना सब कुछ वामदेव जी को दे दिया है। पुण्य भी दे दिया है, तो यह पाप मुझे क्यों भोगना पड़ रहा है?'

उनके यह सोचते ही वह मरु-भूमि शीतल चन्दन-वत् हो गई और वामदेव जी ने वहाँ प्रकट होकर कहा कि--'यदि तुम यम के दरबार में कह देते कि तुमने पाप-पुण्य दोनों मुझे दे दिए हैं, तो तुम्हें पाप भोगना न पड़ता। लेकिन तुम्हें पुण्य भोगना था, इसलिए यह पाप भी भोगना पड़ा। जब तुम पुण्य भोगते, तब मैं पाप थोड़े ही भोगता!'

इतने में राजा की मूर्छा दूर हो गई। वे उठकर बैठ गए। सामने श्री वामदेव जी खड़े थे। अपने गुरु को पहचान कर राजा ने उन्हें सादर प्रणाम किया।

'भक्त' को इसी तरह अपने 'मन' का साधन करना पड़ता है। 'मन' अर्पण करने के बाद भक्त का कुछ भी नहीं रहता। बाद में तो भक्त ऐसा काम ही नहीं करेगा, जिससे उसको पाप-पुण्य का बन्धन लगे। भक्त को इससे शीघ्र लक्ष्य की प्राप्ति होती है। भक्त अपने ध्येय से एकता का अनुभव करता है और तल्लीनता प्राप्त करता है।

प्रभु-मिलन की स्थिति

प्रेमी जब तक नहीं मिलता, तब तक उसको पकड़ने के लिए, उसके पीछे पड़ने में आनन्द मिलता है। प्रेमी के मिल जाने के बाद उतना आनन्द नहीं रहता। साधक की स्थिति भी इसी तरह प्रभु-मिलन के पहले और प्रभु-मिलन के बाद रहती है।

कबीर ने कहा है—

अन्तर जपूँ न बाहर से, मुख से जपूँ न राम।
राम सदा मुझको जपे, हम पावें विश्राम॥

ऊपर से तो कबीर के उक्त शब्द, उन्माद से भरे हुए मालूम होते हैं, लेकिन वैसा नहीं है। ध्याता-ध्येय की एकता के सम्बन्ध में उपनिषद् में जो बात कही गई है, उसका गुसाईं तुलसीदास ने अक्षरशः अनुवाद यह किया है कि—

सो जानत जिन देहु जनाई।
जानत तुमहि तुमहि होइ जाई॥

प्रभु जिसको स्वयं चाहता है, वही उसको जान सकता है और जानने के बाद वह भी प्रभु-जैसा ही बन जाता है। साधक ध्येय की आराधना करते-करते स्वयं ध्येय-स्वरूप बन जाता है। ध्याता-ध्येय में कुछ भी अन्तर नहीं रहता। ऐसी एकता हो जाने पर, एक समय का ध्याता राम को भजे या राम राम-स्वरूप बने हुए ध्याता को भजे—एक ही बात है।

अतएव कबीर ने उक्त दोहा उन्माद में नहीं लिखा है अपितु प्रभु के साथ एकता का अनुभव करने के बाद कहा है, जो यथार्थ है।

प्रभु-मिलन के बाद प्रभु का आकर्षण और अधिक बढ़ता है। जितनी तन्मयता बढ़ेगी, आकर्षण उतना ही अधिक होगा। भगवान् के मिलने पर व्यक्ति अपना अस्तित्व खो नहीं देता। गङ्गा का पानी जब समुद्र में मिला, तब से गङ्गा और समुद्र की सदा के लिए एकता हो गई। अब समुद्र में भरती-ज्वार आने पर गङ्गा का पानी मीलों तक नमक से खारा हो जाता है और समुद्र में ओट-भाटा होने पर गङ्गा का पानी फिर मीठा हो जाता है, लेकिन गङ्गा-समुद्र का मिलन सदा के लिए हो गया।

भक्त को भगवान् से मिलने के बाद—'मिलन नहीं रहा' ऐसा नहीं हो सकता। भक्त का मन सदैव एक-सा नहीं रहता। मन में ज्वार-भाटा आया ही करता है।

भक्त की तन्मयता बढ़ने पर, घुसी हुई गङ्गा की ज्वार की भाँति, भक्त में तन्मयता के गुण बढ़ जाते हैं, वह गद्‌गद हो जाता है और चित्त के प्रभु में लगे रहने से, देह का भान तक नहीं रहता। जब तन्मयता नहीं रहती, तब भाटा की भाँति भक्त में उभार नहीं होता। देह के खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने के भान होने लगते हैं, लेकिन भक्त का प्रभु के साथ का मिलन छूटने नहीं पाता।

भक्त की माँग

भक्त भगवान् से दुःख नहीं माँगते। वे स्थूल सुख भी नहीं चाहते। वे जानते हैं कि सुख मात्र प्रभु-चरण में ही है। यदि दुःख माँगेंगे, तो उनका जीवन नहीं निभेगा। लोगों को दिखता है कि भक्त को दुःख होता है लेकिन खुद भक्त को वह नहीं प्रतीत होता। कुन्ती ने भगवान् से यह माँगा था कि 'मेरे कर्मानुसार जिस योनि में मेरा जन्म हो, उसमें हे हृषीकेश ! आपकी भक्ति मुझमें दृढ़ रहे।' इस प्रकार कुन्ती ने दुःख नहीं माँगा था। वैभव होगा, तो सारे समय वैभव का ही स्मरण होता रहेगा, प्रभु का स्मरण नहीं होगा। भक्त को प्रभु का सम्मुखत्व मिले, इसलिए प्रभु उस पर अनुकम्पा कर, उसका सर्वस्व हर लेता है। सर्वस्व अर्थात् पाप और पुण्य दोनों।

भक्ति और मूर्ख

स्वामी रामतीर्थ ने कहा है कि—'जिस घड़ी उन्होंने 'प्रभु-प्रेम' का नुस्खा पाया, तब से अक्ल की किताबें जिस हालत में आलमारी में थीं, उसी हालत में ज्यों-की त्यों वहीं पड़ी रह गईं। मानों उन्हें अक्ल के चलाने का मौका न मिला।

इसका यह अर्थ नहीं होता कि भक्ति सिर्फ मूर्ख ही कर सकते हैं। भक्त तुलसीदास महान् पण्डित थे। सूरदास एक महान् भक्त और अद्वितीय कवि थे। कवियों में उनकी गिनती स्वयं प्रकाशित अर्थात् 'सूर्य' के रूप में की गई है। इतना अवश्य ठीक है कि भक्ति करने में अक्ल खर्च करने की जरूरत नहीं रहती। मन में प्रेम का उभार आने में बुद्धि काम नहीं करती। अक्ल लगानेवाला शङ्का-पर-शङ्का उठाता ही रहेगा।

तीन श्रेष्ठ कृतियां

हठ-योग

मूल्य ४-०० रु०

विज्ञान-योग

मूल्य ५-०० रु०

राज-योग

मूल्य ४-०० रु०